5

मोही जीव भरमतमतैं नहिं...

मोही जीव भरम तम तैं नहिं,
वस्तुस्वरूप लखै है जैसे।।टेक।।
जे जे जड़ चेतन की परनति,
ते अनिवार परनवै वैसे।
वृथा दुखी शठ कर विकल्प यौं,
नहिं परिनवैं परिनवैं ऐसैं।।१।।
अशुचि सरोग समल जड़मूरत,
लखत विलात गगनधन जैसे।
सो तन ताहि निहार अपनपो,
चहत अबाध रहै थिर कैसे।।२।।
सुत–पित–बंधु–वियोग–योग यौं,
ज्यौं सराय जन निकसे पैसें।
विलखत हरखत शठ अपने लखि,
रोवत हँसत मत्तजन जैसे।।३।।
जिन–रवि वैन–किरन लहि जिन निज,
रूप सुभिन्न कियो परमैसैं।
सो जगमौल 'दौल' को चिर–थित,
मोह विलास निकास हृदै सें।।४।।

मोही जीव अपने भ्रमरूपी अंधकार के कारण वस्तु स्वरूप को जैसा है, वैसा नहीं देख पाता।।टेक।।

चेतन और अचेतन पदार्थों की जो-जो परिणति होती है, जैसी होनी है, उसे कोई बदल नहीं सकता किन्तु यह मूर्ख व्यर्थ ही ऐसे विकल्प करके दुखी होता है कि यह वस्तु ऐसे क्यों नहीं परिणमित हो रही है? ऐसे क्यों हो रही है? इसे ऐसे परिणमित नहीं होना चाहिये, इसे ऐसे परिणमित होना चाहिये।।१।।

यह शरीर अपवित्र है, रोगयुक्त है, मलिन है, जड़मूर्ति है और आकाश में बादलों की तरह क्षण भर में दिखकर विलीन हो जाने वाला है, किन्तु यह मोही जीव उसमें अपनापन देखता है और चाहता है कि यह अबाधरूप से स्थिर कैसे रहे?।।२।।

पिता-पुत्र व भाई-बन्धुओं का संयोग-वियोग तो वास्तव में ऐसा है जैसा कि धर्मशाला में यात्रियों का आवागमन, किन्तु यह मूर्ख उन्हें अपना मानकर उनके वियोग-संयोग में इस प्रकार दुखी होता है, इस प्रकार रोता-हंसता है, जैसे कोई पागल हो।।३।।

कविवर पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि जिन जीवों ने जिनेन्द्र भगवान रूपी सूर्य की वचनरूपी किरणों को प्राप्त करके पर में से अपना रूप भलीभाँति भिन्न जान लिया है, वे ही जगत के मुकुट हैं उन्होंने ही अपने हृदय से अनादिकालीन मोह के विलास को बाहर निकाला है।।४।।